१ जुलाई १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

स्थूल से सूक्ष्मता की ओर

सफलविपश्यी साधक चार सूक्ष्मताओं की चरमसीम सच्चाइयों का साक्षात्कार कर लेता है। चार परम सत्य का स्वयं साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है।

पहली सूक्ष्मता है काया की। कायानुपश्यना करता हुआ साधक प्रारंभ में काया के ठोसपने की अनुभूति करता है। बार-बार के अभ्यास से स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। बींधते हुए तीक्ष्ण चित्त से ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर यात्रा करते-करते स्वतः शरीर का घनत्व नष्ट होता है। फिर इसी तीक्ष्णता से समग्र शरीर-पिंड को चीरता हुआ केवल ऊपरी-ऊपरी सतही स्तर तक ही नहीं, बल्कि भीतर तक की घनसंज्ञा नष्ट कर लेता है। रूपकलाप याने शरीरगत परमाणुओं की सूक्ष्म सच्चाई तक जा पहुँचता है। जो भौतिक जगत का अंतिम सत्य है। शरीर का एक-एक कण खुल जाता है। कहीं भी संकलन, संघटन, संयोजन, संश्लेषण नहीं रह जाता। जैसे कोई बालू का गीला पिंड सूख जाय। कण-कण को बांधे रखने वाली संयोजनरूपी नमी दूर हो जाय। घनीभूत पिंड विघटित हो जाय, बिखर जाय। शरीर के बाहर-भीतर कहीं भी कोई स्थिर, शाश्वत, ध्रुव, अचल, ठोस पदार्थ है, ऐसा भ्रम नहीं रह जाय। यही रूप-स्कंध की याने भौतिक रूप की अंतिम सच्चाई तक पहुँचना है। यही रूप का सूक्ष्मतम साक्षात्कार है जिसमें कि भासमान प्रकट सत्य परमसत्य के रूप में अनुभूत होने लगता है।

दूसरी सूक्ष्मता है – वेदना-स्कंध की। विपश्यी साधक वेदनानुपश्यना करता हुआ देखता है कि प्रारंभ में समस्त शरीर पर अधिकतर स्थूल-स्थूल संवेदनाएं महसूस होती हैं। जैसे कि घनीभूत दबाव, दुखाव, तनाव, खिंचाव, भारीपन अथवा मूर्छा, अर्धमूर्छा आदि-आदि। परंतु शांत और समताभरे चित्त से इन स्थूल संवेदनाओं का साक्षीकरण करते-करते इनका स्वतः भेदन होने लगता है। शनैः शनैः शरीर के भीतर-बाहर सर्वत्र स्थूल संवेदनाएं क्षीण होने लगती हैं। उनका विघटन-विश्लेषण होने लगता है और एक अवस्था आती है जबकि शरीर पर कहीं भी मूर्छा या अर्धमूर्छा नहीं रह जाती। कहीं कोई सघन संवेदना नहीं रह जाती। सर्वत्र तरंगें, उदय-व्यय ही उदय-व्यय की अनुभूति होने लगती है। अनासक्तभाव से इसी का दर्शन करते-करते संवेदना की यह उदय-व्यय अनुभूति भी अधिक सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने लगती है और सूक्ष्मतम अवस्था तक पहुँचती है। तब उदय और व्यय की अलग-अलग अनुभूति भी बंद हो जाती है। उदय होते ही व्यय होता है। बीच की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। यह परमाणुओं से चित्त का स्पर्श होते ही वेदना की उत्पत्ति की सूक्ष्मतम सच्चाई है, जो तत्क्षण व्यय में बदलती है। इस अवस्था में सारा प्रपंच इस तीव्रगति से प्रवाहमान प्रतीत होता है कि सर्वत्र भंग ही भंग का बोध होता है। जैसे बहती हुई नदी बालू के तटवर्ती कगार को काट दे और वह बालू का ढेर भरभरा कर गिर पड़े। कण-कण बिखर जाय। यों सारे शरीर-स्कंध पर जो संवेदना महसूस होती है। वह अत्यंत तीव्रगति से भंग होती हुई, बिखरती हुई ही महसूस होती है। कहीं ठोसपना नहीं, स्थूलता नहीं। कहीं अटकाव नहीं, व्यवधान नहीं, रुकावट नहीं, बाधा नहीं। सर्वत्र धारा-प्रवाह की ही अनुभूति होती है। यह भंग बोध ही संवेदना की सूक्ष्मतम अवस्था का साक्षीकरण है जो संवेदनाओं को सामिष नहीं बनने देता याने उनके प्रति राग-द्वेष नहीं जगने देता; जो संवेदनाओं को निरामिष बनाए रखता है याने उनके प्रति अनासक्तभाव पुष्ट करता है।

इसी प्रकार विपश्यी साधक चित्तानुपश्यना करता हुआ, चित्त के उस खंड के क्रिया-कलाप को देखता है जिसे संज्ञा कहते हैं। जिसका काम मूल्यांकन करना है। पूर्व अनुभूतियों और यादगारों के बल पर, पूर्व संस्कारों के रंगीन चश्मे चढ़ाए हुए चित्त का यह संज्ञा-स्कंध प्रत्येक अनुभूति को अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुःखद आदि-आदि मूल्य देते रहता है। साधक देखता है कि यह संज्ञा-स्कंध कितना प्रबल है। प्रत्येक अनुभूति अच्छे-बुरे मूल्यांकन से जुड़ी ही रहती है। जिस अनुभूति को अच्छी मान लेता है उसे लगातार कितने अरसे तक अच्छी माने जाता है। जिसे बुरी मान लेता है उसे लगातार कितने अरसे तक बुरी ही माने जाता है। तारतम्य टूटता ही नहीं। संज्ञा की निरंतरता बनी ही रहती है परिणामतः संज्ञा-स्कंध घनीभूत होते जाता है। विपश्यना के बल पर साक्षीकरण का अभ्यास करते-करते साधक देखने लगता है कि किस प्रकार घनीभूत संज्ञा के कारण ही प्रतिक्रियाओं से अभिभूत चित्त राग-द्वेष के नए संस्कार बनाता है और दूषित हो उठता है। और कैसे जब संज्ञा की निरंतरता टूटती है तो सघनता दुर्बल होती है। स्थूल से सूक्ष्म होती हुई संज्ञा की जकड़ कम होती है तो प्रतिक्रियाओं का प्रभाव भी स्वतः कम होने लगता है।

इसी प्रकार चित्तानुपश्यना के साथ-साथ साधक धम्मानुपश्यना भी करने लगता है। रूपकलापों याने परमाणुओं के धर्म-स्वभाव को देखता है। वेदनाओं के धर्म-स्वभाव को देखता है। और देखता है संज्ञा और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हो रहे संस्कारों के धर्म-स्वभाव को भी। कैसे शरीर पर होने वाली किसी संवेदना के अनुभव का संज्ञा जब अच्छा, प्रिय, सुखद आदि मूल्यांकन कर देती है तो तुरंत रागात्मक संस्कार जागने लगते हैं और घनीभूत होने लगते हैं। उसका बुरा, दुखद, अप्रिय मूल्यांकन कर देती है तो द्वेषात्मक संस्कार उभरने लगते हैं और घनीभूत होने लगते हैं। इन घनीभूत संस्कारों का तूफान ही भावावेश बन कर समस्त चित्त-स्कंध पर छा जाता है और चित्तधारा को व्याकुल-व्यथित कर देता है। साधक विपश्यना के आधार पर समझता है कि ये संस्कार कितने दुःखप्रद हैं। विपश्यना द्वारा ही इसके दुःखद होने का कारण भी समझ में आने लगता है। इन संस्कारों के प्रति कितना तादात्म्य स्थापित कर लिया है –आत्मभाव, आत्मीय भाव; 'मैं' का भाव, 'मेरे' का भाव। यही आसक्ति पैदा करता है। परिणामतः दुःख पैदा होता है। विपश्यी साधक को देखते-देखते स्पष्ट होने लगता है कि यह 'आत्म-आत्मीय' भाव, 'मैं-मेरे' का भाव, रूप-स्कंध या शरीर-स्कंध के प्रति याने घनीभूत

परमाणुओं के पुंज के प्रति कितना गहन हो उठा है। फलतः दुःख भी उतना ही गहन हो उठा है। विपश्यना द्वारा सत्य का साक्षात्कार करते-करतेयह स्पष्ट होने लगता है कि जिस प्रकार रूप-स्कंध याने परमाणु-पुंज उदय-व्यय स्वभाव के हैं, अनित्यधर्मा हैं, वैसे ही वेदना भी, वैसे ही संज्ञा भी और वैसे ही संस्कार भी। यह अनित्य-बोध जितना-जितना सबल होते जाता है, संस्कारों के प्रति 'मैं-मेरे' का भाव उतना-उतना दुर्बल होते जाता है, आत्मभाव दुर्बल होता है तो अनात्मभाव स्वतः पुष्ट होता है। देखते-देखते आसक्ति क्षीण होती है। अनासक्ति पुष्ट होती है। दुःख का कारण दूर होता है। दुःख दूर होता है।

अनात्मभाव पुष्ट होता है तो ही संज्ञा का घनत्व क्षीण होता है। संस्कार का घनत्व क्षीण है। दर्शन "केवल दर्शन" बन जाता है। ज्ञान "केवल ज्ञान" बन जाता है। भोक्ता और कर्ता की भ्रांति तो दूर होती ही है; समय पाकर द्रष्टा और ज्ञाता की भ्रांति भी दूर हो जाती है। "देख रहा हूं" के स्थान पर "देखा जा रहा है" रह जाता है। "जान रहा हूं" के स्थान पर "जाना जा रहा है" रह जाता है। दर्शक ,दर्शन और दृश्य तीनों एकाकार होकर "केवल दर्शन" रह जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एकाकार होकर "केवल ज्ञान" रह जाता है। यही सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान की चरम अवस्था है। ऐसी अवस्था में ही संज्ञा-निरोध होता है। साधक आध्यात्म की गहनतम अवस्था प्राप्त करता है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन से "कैवल्य" की उपलब्धि करता है। "केवली" हो जाता है। इंद्रियातीत परमपद "निर्वाण" में यथेच्छ रत रहने में अभ्यस्त हो जाता है। उन्मुक्त हो जाता है। तब वह स्वयं जान लेता है कि अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है क्योंकि उस अवस्था में पहुँच कर पुनर्जन्म के सारे भव-संस्कार क्षीण होकर क्षय हो जाते हैं। मनुष्य-जीवन सफल-सार्थक हो जाता है। संस्कार और संज्ञा के उदय-व्यय की अनुभूति से लेकर उनके निरोध तक की यह यात्रा ही इन दोनों की चरम सूक्ष्मतम अवस्था है। विपश्यी साधक यों रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार-स्कंधों की उन सूक्ष्मतम परम सच्चाइयों की अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लेता है, जिनके आगे इन स्कंधों के क्षेत्र में कुछ और सूक्ष्मतर नहीं रह जाता। तदनंतर इनसे परे उस परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार करता है जो कि इंद्रियातीत है, नाम-रूपातीत है। साधक प्रत्यक्षानुभूति द्वारा भलीभांत जान लेता है कि स्थूल भासमान सच्चाइयों का भेदन कर सूक्ष्मतम तक पहुँचने की यही विधा है, साधना है, शक्ति है। इससे बढ़ कर अन्य कोई विद्या, साधना, शक्ति नहीं। अतः इसे पाकर वह और कुछ पाने की अपेक्षा नहीं रखता।

अंतर्मुखी होकर विपश्यना साधना द्वारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा करने वाले साधक के लिए मार्ग में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अनेक बार भौतिक रूप और चित्त का घनत्व नष्ट होकर सूक्ष्म प्रवाह की स्थिति प्राप्त होने के बावजूद किसी सुसुप्त कर्म-संस्कार की उदीरणा होती है तो शरीर-स्कंध पर पुनः उस संस्कार के अनुरूप कोई स्थूल घनीभूत संवेदना प्रकट करती है, कभी मूर्छा-अर्धमूर्छा प्रकट करती है। साधक धीरज के साथ फिर उन्हें भासमान स्थूल प्रकट सत्य समझ कर साक्षीभाव से देखता है तो देर-सबेर उनका भी भेदन होता है –पूर्व संस्कारों की निर्जरा होती है, उनका क्षय होता है। पुनः सूक्ष्म धाराप्रवाह की अनुभूति होने लगती है। यों जब तक अधोगति की ओर ले जाने वाले सुसुप्त कर्म-संस्कारों का संग्रह पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता, तब तक बीच-बीच में स्थूलता उभरती ही रहती है। समझदार साधक इन पूर्व संस्कारजन्य संवेदनाओं के प्रति उपेक्षा का अभ्यास करता है। यह संस्कार-उपेक्षा की यात्रा किसी के लिए लंबी, किसी के लिए ओछी होती है। निर्भर करता है – पूर्व-संग्रह कितना है! निर्भर करता है – संस्कार उपेक्षा का काम कितनी समझदारीपूर्वक किया जा रहा है!

ऐसी अवस्था में कोई कच्चा साधक राजमार्ग छोड़ कर किसी गलत भूल-भुलैया में पड़ जाता है। पूर्व संस्कारजन्य स्थूल भासमान सत्य प्रकट हो तो उसके वश की बात नहीं। उनका साक्षीभाव से सामना करना ही है। परंतु जब साधक बावलेपन में स्वयं कल्पनाजनित रूप, रंग, रोशनी, शब्द आदि का कृत्रिम आलंबन उत्पन्न करके उन पर ध्यान देने लगता है तो एक भासमान सत्य से दूसरे बनावटी भासमान सत्य के उधेड़-बुन में पड़ जाता है। सूक्ष्मता की ओर जाने का रास्ता रुक जाता है। राजमार्ग छूट जाता है। किसी अंधी गली में जा अटकता है। मुक्ति दूर हो जाती है। साधक समझदार होता है तो इस धोखे से अपने आप को बचाता है।

इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर समझदारीपूर्वक स्थूल सत्य से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण और सूक्ष्मतम सत्य तक की पहुँच सब के लिए अत्यंत कल्याणकारी है। साधको! विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम की ओर गतिशील बने रहना सीखें, किसी भुलावे में भटके नहीं और इस प्रकार सही माने में अपना मंगल-कल्याण साधें! स्वस्ति-मुक्ति साधें!

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

(नए साधकों के लाभार्थ 'विपश्यना' के वर्ष १०, अंक ९, (८१) का पुनर्मुद्रण)

समाधान

● विपश्यना से स्वास्थ्य में सुधार होता ही है, परंतु विपश्यना को केवल मात्र शारीरिक स्वास्थ्य के सुधार के मापदंड से ही नहीं मापना चाहिए अन्यथा शुद्ध धर्म का अवमूल्यन होता है। स्वास्थ्य मनोनुकुलन हो तो भी उसको लेकर मन अपनी समता न खो बैठे, संतुलन न बिगाड़ बैठे, यही विपश्यना का बहुत बड़ा लाभ है। विश्वास है विपश्यना तुम्हें यथोचित मानसिक क्षमता प्रदान करेगी और उससे ही स्वास्थ्य में भी लाभ होगा।

● यह आवश्यक नहीं है कि अनुभूति सदा बदलती ही रहे। कुछ अरसे तक एक जैसी ही अनुभूति होती रहे तो उसमें कोई दोष नहीं। वस्तुतः कोई भी अनुभूति अपने आप में ही अनित्यता की बोधक है। जहां कुछ ठोस मालूम होता है वहां कभी-कभी कुछ देर रुक सकते हैं, परंतु बीच-बीच में सारे शरीर की यात्रा करते रहना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार से ही साधना का अभ्यास कर सकते हैं, जिससे कि साधना यंत्रवत न हो जाय। समय कम लगे या अधिक, इसका भी कोई महत्त्व नहीं है। मुख्य बात यह है कि मन को शरीर के भीतर होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रखें और किसी भी प्रकार की स्थिति को लेकर समता न खो बैठें। उसका संतुलन बना ही रहे। यही विपश्यना का अभ्यास है।

● मंगल भावना में शरीर के जिस किसी भाग में सूक्ष्म तरंगें महसूस होती हों, उस पुलक-रोमांच को ही मैत्री भावों से भर कर यह साधना करनी चाहिए। यदि हृदय क्षेत्र में भी ऐसी पुलकावलियां महसूस होती हों तो विशेषरूप से यहां से कर सकते हैं।

● किसी भी बात को अंध विश्वास में मान लेना धर्म के विरुद्ध होता है। स्वयं अपनी अनुभूतियों से किसी बात को जान लेना और जान कर उसे स्वीकार करना यही धर्म की बात होती है।

● एक साथ एक से अधिक साधना पद्धतियों को सम्मिश्रित करते रहने की प्रवृत्ति दूर हो और विपश्यना के प्रति अनन्य भाव पुष्ट हो तो ही साधक को लंबे अरसे तक इस साधना पद्धति की गहराइयों तक ले जाने का अभ्यास कराया जा सकता है।

● तुम्हें भी नित्य प्रति सुबह-शाम साधना करके अपनी साधना का पुण्य अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोगों को बांटना चाहिए जिससे कि उनका धर्मबल बढ़े और साथ-साथ तुम्हारा भी।

● जिस समय मन अधिक बेचैन हो, बार-बार उचट जाता हो, उसी समय तो साधना की आवश्यकता है। ऐसे समय साधना सहायक न होगी तो वह हमारे किस काम की?

● वासना की तरह भय भी हमारे अंतर्मन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विकार है। बड़े धीरज के साथ अभ्यास करते हुए इस विकार से भी छुटकारा लेना है। जब-जब भय का संचार हो तो जिन कारणों को लेकर भय के विकार उत्पन्न हुए हैं, उन कारणों को महत्त्व न देकर इस बात को महत्त्व देना चाहिए कि इस समय मेरी चित्त-धारा पर भय का विकार उत्पन्न हुआ है और उसके साथ-साथ शरीर में इस प्रकार की संवेदनाएं हो रही हैं। संवेदनाएं अनित्य हैं और इसी प्रकार यह विकार जो मन में जागा है, यह भी अनित्य है; परिवर्तनशील है; सदा रहने वाला नहीं है, यों इसे साक्षी भाव से देखेंगे तो इसका प्रभाव भी क्षीण होता चला जायगा, इसकी जड़ें उखड़ती चली जायेंगीं। विपश्यना द्वारा विकारों के उन्मूलन का यही तरीका है।

● जब कोई विकार मन में उठे, चाहे वह वासना का ही क्यों न हो, तत्काल चित्त का एक भाग उसे साक्षीभाव से देखने लगे और साथ-साथ शरीर के किसी हिस्से में जो संवेदना हो रही है उस संवेदना को भी साक्षीभाव से देखे। सिर से पांव तक जहां कहीं भी संवेदना हो रही है उसके अनित्य भाव को समझते हुए यह भी समझे कि मन में जो यह विकार उठा है वह इन संवेदनाओं की तरह ही उदय-व्यय स्वभाव वाला है। ध्रुव और शाश्वत नहीं है। देखें कि इसका प्रभाव भी कितनी देर रहता है?

जैसे ही यों दृढ़तापूर्वक साक्षीभाव से देखने लगेंगे, वैसे ही हर विकार का, चाहे वह वासना हो या और कुछ, उसका शमन होगा ही।

● जब कभी मन इस बात [किसी प्रिय जन के देहांत] को लेकर विह्वल हो उठे तो इस विह्वलता को कुछ देर साक्षीभाव से देखते रहना चाहिए और साथ ही साथ उस समय जो भी शारीरिक संवेदना हो, उसे भी। इससे विह्वलता का यह भावावेश बहुत गहरा असर नहीं पैदा कर सकेगा।

[समय-समय पर साधकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में पूज्य गुरुजी द्वारा समाधान के कुछ अंश!] [संपादक]

जेल शिविर के साधकों के उद्गार

● तिहाड़ जेल से श्री रमेश उ. राय लिखते हैं, "मैं जेल में २४-९-९२ से एक मुलजिम के रूप में हूं। मैंने यहां १-१-९४ को विपश्यना का पहला शिविर किया तब पता चला कि मैं किसके इसारों पर नाच रहा था। इसके पहले मैंने अपनी जिंदगी में जिसके इसारों पर जो कुछ किया था – वह है मेरा मन। पहले मुझे मन के बारे में कुछ पता नहीं था। लेकिन विपश्यना करने के बाद मुझे पता लगा कि सही जीवन क्या है। विपश्यना के बाद मुझमें बहुत बदलाव आया है। मन बहुत शांत हुआ है। प्रारंभ में मुझे बड़ी बेचैनी हुई, लेकिन धीरे-धीरे मन ठहरने लगा। अब मैं आनंद से भर जाता हूं। जब मैंने ४-४-९५ का दूसरा शिविर पूरा किया तो मुझे लगने लगा कि जब भी मन दूसरों के बारे में बुरा सोचता है तो मैं बहुत बेचैन हो जाता हूं। इसके बाद मैंने कोर्ट में जाकर अपना गुनाह कबूल कर लिया और मन में यह सोच लिया कि अब मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा, जिससे दूसरे की हानि होती हो। आज भी मेरी साधना जारी है। जब भी समय मिलता है, साधना करने लगता हूं। अब मेरा मन ज्यादा सोच-विचार में नहीं रहता। मुझे ऐसा लगता है कि विपश्यना करने से नया जन्म हुआ है। मेरे अंदर जितने भी विकार हैं उनको बाहर निकालना चाहता हूं और एक अच्छे साधक के रूप में उभरना चाहता हूं। मैं घर जाकर अपने माता-पिता को भी साधना कराना चाहता हूं। आप का आभारी हूं!"

● तिहाड़ जेल से ही श्री गणेशकुमार लिखते हैं, "जनवरी ९४ में पहला शिविर किया। यह विद्या सचमुच में बड़ी कल्याणकारी है। साथ ही यह भी लगा कि मैं अभी विद्या को ठीक से समझ नहीं पाया हूं। अतः अप्रल ९४ में ही पूज्य गुरुजी के साथ दूसरा शिविर किया। इस बार ठीक से समझा कि विपश्यना क्यों, कैसे और किसलिए करनी चाहिए! अब से पहले मैंने ऐसा कोई अपराध नहीं किया था। पर हर मनुष्य यही सोचता है कि मैं शांत हूं। पहले मैं भी यही सोचता था लेकिन विपश्यना करने के बाद पता चला कि कितना अशांत, बेचैन और क्रोधी था। अंतर्मुखी होने की यह कला विपश्यना विद्या में ही मौजूद है। इसके अभ्यास से मुझमें किसी बात को समझने की शक्ति, स्मरणशक्ति में वृद्धि और सेवाभाव की भावना जगी है। अब मैं यथाशक्ति सेवा देना चाहता हूं और दे भी रहा हूं।

जेल में आकर ऐसा लग रहा था कि मैं कहां और किस अपराध में आ गया हूं। काफी परेशान रहता था। परंतु विपश्यना पाने के बाद ऐसा सोचने लगा हूं कि मेरे पूर्व जन्म का कोई पुण्य था जिसके कारण यहां आया और विपश्यना से संपर्क हुआ। शायद मैं जेल में नहीं आता तो इस अनमोल कल्याणकारी विद्या से वंचित ही रह जाता। शील-पालन करने में अभी पूर्णतः सक्षम नहीं हो पाया हूं, पर प्रयासरत हूं। नियमित साधना कर रहा हूं। अब तक तीन शिविर करके, १२ शिविरों में सेवा दे चुका हूं। आगे भी सेवा व साधना में रत रहूंगा। मैं पूज्य गुरुजी और स.आ. का कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मुझे इस चारदीवारी के भीतर आकर यह विद्या प्रदान किये, जहां इस बात की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। सब का मंगल हो!"